अंतराक्षरी
मेरी
भारतीय
जेलों में
पाँच साल
कहानी माला—29

मेरी टाइलर की किताब के अंश

'नक्सलवादी' शब्द की उत्पत्ति उत्तरी बंगाल के सिलीगुड़ी में स्थित नक्सलबाड़ी नामक गाँव से हुई है जहाँ 1967 बसंत में वहाँ के बड़े जमींदारों और सूदखोरों के खिलाफ किसानों ने सशस्त्र विद्रोह कर दिया था। इस विद्रोह का नेतृत्व भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) की जिला समिति के सदस्यों ने किया था। उन दिनों यह पार्टी पश्चिम बंगाल की संयुक्त मोर्चा सरकार मेंप्रमुख साझेदार थी। इस विद्रोह का अंतिम लक्ष्य राजसत्ता पर कब्जा करना था। इस बात की कोशिशें की गयी कि गाँवों में सत्ता के समूचे ढाँचे को नष्ट करके उसके स्थान पर किसान समितियाँ कायम की जायें। जमींदारों तथा सूदखोरों के साथ अनुचित कर्ज़ और गिरवी

से सम्बन्धित कागजात नष्ट कर दिये गये और इलाके के 70 प्रतिशत गरीब तथा भूमिहीन किसानों के बीच उस जमीन को फिर से बाँटने की दिशा में कदम उठाये गये। जिस पर जोतने वालों की कोई मिल्कियत नहीं थी।

जहाँ तक मेरी बात है, नक्सलवादी आंदोलन के बारे में किसी व्यापक जानकारी का दावा नहीं कर सकती; मै जो कुछ जान सकी हूँ, उसका एक काफी बड़ा हिस्सा मैंने जेल में रहकर जाना है। नक्सलवादियों के संपर्क में मैं आयी उनकी निष्ठा और ईमानदारी ने, भारतीय जनता की खुशहाली के लिए उनकी सच्ची चिंता ने, उनकी देश-भक्ति ने और आत्म-बलिदान के लिए हमेशा तैयार रहने वाली प्रवृत्ति ने मुझे बेहद प्रभावित

किया। मैंने जेल के कर्मचारियों और कैदियों को समान रूप से उनकी प्रशंसा करते सुना—वे उनके साहस, व्यापक भ्रष्टाचार के प्रति उनके प्रतिरोध, निःस्वार्थता और बेहद दलित, पीड़ित तबके के साथ भी पूरी तरह घुल-मिल जाने की उनकी क्षमता की प्रशंसा करते थे।

मैं इस बात पर फिर जोर देना चाहूंगी कि इस पुस्तक में प्रयुक्त 'नक्सलवादी' शब्द को किसी भी रूप में अपमानजनक अर्थ से न जोड़ा जाय।

दिसम्बर 1969 के आरम्भ में मैंने लंदन में अनुवाद-कार्य की नौकरी छोड़ दी थी ताकि स्थल-मार्ग से भारत की छः महीने की यात्रा पर मैं रवाना हो सकूँ। मैं इस यात्रा की योजना पहले से बना रही थी इसके

लिए पैसे बचा रही थी। मेरा घर-टिलबरी डॉक्स के एसेक्स नामक स्थान में था जहाँ मेरे पिता काम करते थे और जहाँ विभिन्न देशों के जहाज हमेशा आते रहते थे। शायद यही वजह थी कि अपने स्कूल के दिनों से ही मैं दूसरे देशों और वहाँ के लोगों के प्रति काफी आकर्षित थी। अपनी किशोर अवस्था के शुरू के दिनों से मैं अपना जेब-खर्च बचाने लगी थी ताकि गर्मी की छुट्टियाँ किसी दूसरे देश में बिताऊँ। वयस्क होने पर लंदन और जर्मनी के विश्वविद्यालयों में पढ़ते समय मैं पाँचों महाद्वीपों के छात्रों के सम्पर्क में आई और मुझे यह बोध होने लगा कि दूसरे देशों के लोग हमारे बारे में, हम ब्रिटिश लोगों के बारे में क्या सोचते हैं। मैं यह समझने लगी कि स्कूल के दिनों में हमें जिस 'यशस्वी' साम्राज्यवादी

इतिहास के बारे में बताया जाता रहा है वह कुल मिलाकर गौरव की बात नहीं है। मैं यह समझने लगी थी कि ब्रिटेन तथा अन्य औपनिवेशिक देशों द्वारा विदेशों पर प्रभुत्व कायम रखने के लिए जो नीतियाँ अपनाई जाती रही हैं, उन नीतियों का वस्तुतः भारत-जैसे तमाम देशों की वर्तमान गरीबी में बहुत बड़ा योगदान है।

दो वर्षों तक मैंने उतरी लदंन के विल्सडेन नाम के उपनगर में एक स्कूल में पढ़ाया। इस स्कूल में विभिन्न देशों के छात्र शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। इन्ही दिनों जातिगत संबंधों के बारे में मेरी दिलचस्पी पैदा हुई मैंने अपना खाली समय 'जातिगत भेदभाव के विरूद्ध अभियान' (कम्पेन अगेंस्ट रेशल डिस्क्रिमिनेशन) में बिताया। लगभग इन्हीं दिनों जब मैं एक

बार अपनी छुट्टियाँ बिताकर जर्मनी से लौट रही थी, मेरी मुलाकात अमलेन्दु सेन से हुई वह पश्चिम जर्मनी में प्रशिक्षणार्थी इंजीनियर था। ट्रेन में सामान्य बातचीत से शुरू हुआ परिचय धीरे-धीरे गाढ़ी दोस्ती में बदल गया। इसकी वजह बहुत साफ थी—राजनीतिक और सामाजिक मसलों पर हमारा नजरिया एक था। 1967 के अंतिम दिनों अमलेन्दु ने अपने घर बंगाल वापस लौटने का फैसला किया। मैंने उसके इस फैसले का सम्मान किया क्योंकि वह योरुप की आरामतलब जिन्दगी को छोड़ कर अपने देश की मदद में हाथ बँटाने के लिए लौट रहा था।

कलकत्ता से वह बराबर मुझे पत्र लिखता रहा और कुछ समय बाद उसने सुझाव दिया कि मैं कुछ दिनों की छुट्टी लेकर भारत आऊँ और

स्वंय वहाँ की हालत का जायजा लूँ। रहने की कोई दिक्कत नहीं होगी; उसके परिवार के लोग मुझसे मिलकर खुश होंगे। मैंने सोचा कि इस तरह के अवसर को नहीं खोना चाहिए और मैंने बड़े उत्साह से उसके निमंत्रण को स्वीकार कर लिया। छः महीनों के अन्दर मैंने अपनी यात्रा के लिए पर्याप्त पैसे जुटा लिये।

छः सप्ताह 18 जवनरी, 1970 को टर्की, ईरान, अफगानिस्तान और पश्चिमी पाकिस्तान के स्थल-मार्ग से की गई दिलचस्प किन्तु साधारण यात्रा के बाद मैं कालका मेल के तीसरे दर्जे के डिब्बे में बैठी थी, जो दिल्ली से कलकत्ता के बीच की हजारों मील की दूरी को अपनी तेज गति से नाप रही थी। मैं अमलेन्दु से फिर मिलने की घड़ी का इन्तजार कर रही थी।

उससे मिले दो वर्ष बीत गये हैं। मैं सोच रही थी कि वह मेरे साथ दार्जिलिंग और शायद श्रीलंका तक चल सकेगा या नहीं।

मैंने लंदन के अखबारों में उत्तरी बंगाल के 1967 के नक्सलबाड़ी किसान विद्रोह तथा इसके फलस्वरूप पैदा आन्दोलन की खबरें पढ़ी थीं। और भारत में क्रान्ति की सम्भावनाओं को सोचकर मैं उत्तेजनापूर्ण रोमांच का अनुभव कर रही थी। मैं समझ रही थी कि भारत जैसे विशाल और घनी आबादी वाले देश में हुआ कोई भी आमूल परिवर्तन विश्व-राजनीति के समूचे ढाँचे को प्रभावित किये बिना नहीं रह सकता।

गंभीर चेतावनी पाने तथा भारत की स्थिति से अपेक्षाकृत परिचित होने के बावजूद मैं कलकत्ता के लिए एक तरह से अप्रस्तुत थी।

अमलेन्दु का मकान जिस इलाके में था, वह पूर्वी बंगाल से आये शरणार्थियों की आबादी वाला इलाका था। अमलेन्दु का परिवार भी मूलतः पूर्वी बंगाल का ही रहने वाला था। अपने पड़ोसियों की तरह उन लोगों ने भी 1947 में भारत और पाकिस्तान के बँटवारे के समय पूर्वी बंगाल छोड़ा था। मैंने शुरू के कुछ दिन बंगाली परिवार की दिनचर्या से परिचित होने में बिताये, मैं असंख्य मित्रों और रिश्तेदारों से मिलती रही और तरह-तरह के स्वादिष्ट व्यंजनों का स्वाद लेती रही, लेकिन अभी ज्यादा समय नहीं बीता था कि मुझे दुकानों के सामने स्पेशल ब्रांच पुलिस के लोग बहुधा घूमते हुए दिखाई पड़ने लगे। अमलेन्दु के मकान के सामने एक छोटा तालाब था, जिसके चारों तरफ खजूर के पेड़ थे। स्पेशल ब्रांच पुलिस के लोग पेड़ों के आसपास भी घूमते हुए दिखाई देते थे। इस बीच अमलेन्दु के बड़े भाई ने

मेरी किताबों की जाँच करके इस बात की तसल्ली कर ली कि कोई भी किताब पीकिंग की छपी हुई नहीं है। चीन के प्रकाशनों को जब्त कर लिया गया था। और अगल-बगल के मकानों में, जिनके यहाँ भी चीन से छपी पुस्तकें मिली थी, उन्हे गिरफ्तार कर लिया गया था। बाद में एक पड़ोसी ने मुझे बताया कि उसने अपनी पुश्तैनी तलवार को मकान के पीछे वाले पोखर में फेंक दिया ताकि अगर कभी पुलिस छापा मारे तो उसे खतरनाक हथियार रखने के जुर्म में गिरफ्तार न कर ले।

जनवरी का महीना चल रहा था लेकिन मौसम में गर्मी आ गई थी और मैंने महसूस किया कि गर्मी तेज होने से पहले ही मुझे दक्षिण की तरफ अपनी यात्रा पर निकल जाना चाहिए। मैंने पुरी जाने का फैसला किया जो उड़ीसा में सागर तट पर बसा एक शहर है। कलकत्ता के दर्शनीय स्थलों को कुछ

दिनों तक देखने के बाद मैं एक या दो महीने में लौटने का वायदा करके पुरी के लिए रवाना हो गई। जैसी कि मैंने आशा की थी अमलेन्दु मेरे साथ नहीं चल सका, इसलिए 25 जनवरी को पुरी एक्सप्रेस से मैं अकेले ही अपनी यात्रा पर निकल पड़ी।

अगले दो महीनों के दौरान मैं पुरी से मद्रास, श्रीलंका, बम्बई और काठमाण्डू के चक्कर लगाती रही, आम दिलचस्पी की जगहों को देखती रही, मंदिरों की प्रशंसा करती रही, प्राचीन चट्टानों पर की गई नक्काशी से आश्चर्यचकित होती रही और समुद्र के किनारे रेत में लेटकर धूप खाती रही। प्रायः मैं दूसरे पर्यटकों के साथ जब बस या कार में भ्रमण के लिए जाती तो हर बार उनसे अपने को असंपृक्त महसूस करती थी। मैं जानती थी कि मैं भारत को उस तरह नहीं देख पा रही हूँ जिस तरह वे लोग देख

रहें हैं। कुछ ऐसे दृश्य थे जो किसी भी ऐतिहासिक स्मारक, प्राकृतिक दृश्यावली या प्रद्योगिकीय उपलब्धि की तुलना में कहीं बहुत गहराई तक मुझे प्रभावित कर जाते थे। बनारस में जिस समय मेरे साथ के पर्यटक महाराजा बनारस के महल और स्वर्णमंदिर देखकर हैरान हो रहे थे, मैं नोटिस के बारे में सोच रही थी जिसे मैंने सुबह गंगा नदी के किनारे लिखा देखा था : भिखमंगों, स्नानार्थियों, कोढ़ियों, लाशों आदि की तस्वीर खींचना सख्त मना है।

अंततः भारत का प्राचीन इतिहास और भारत की प्राचीन संस्कृति का मेरे लिए वह अर्थ नहीं रह गया, जो अन्य पर्यटकों के लिए था। कलकत्ता वापस पहुँचने पर मैंने इस शहर को पहले की तुलना में और भी ज्यादा उथल-पुथल से भरा पाया। संयुक्त मोर्चा सरकार ने इस्तीफा दे दिया

था और समूचे बंगाल में राष्ट्रपति शासन लागू हो गया था।

नक्सलवादी आंदोलन के प्रति सहानुभूति रखने वाले लोगों से मेरी बातचीत हुई उनमें इस मुद्दे पर सामान्य सहमति थी कि भारत में संघर्ष का बुनियादी उद्देश्य गाँवों में तकरीबन सामंती स्थितियों में रह रही 70 प्रतिशत से भी अधिक जनता के लिए सामाजिक और भूमि-सम्बन्धी सुधार करने का ही होना चाहिए। फलस्वरूप भारी संख्या में शिक्षित नौजवान गाँव में चले गये ताकि वे कृषि-क्रान्ति की राजनीति का प्रचार कर सकें और किसानों के संघर्ष में हिस्सा ले सके। अमलेन्दु के भाई के साथ मैं एक विश्वविद्यालय देखने गयी। मुझे विश्वविद्यालय की दीवारें नारों से भरी दिखायी दीं और विश्वविद्यालय एक भुतहे इमारत-जैसा सुनसान खड़ा था। पूरा जीवन शहरों में बिताने वाले नौजवान अपने घरों, सुख-सुविधाओं और पढ़ाई-लिखाई

छोड़कर किसानों के साथ संघर्षपूर्ण जीवन में हिस्सा बँटाने चले गये थे और भारत को एक बेहतर भारत बनाने की जबर्दस्त इच्छा के आगे अपनी सारी आरामतलबी को उन्होंने कुर्बान कर दिया था। मैंने देखा कि लोगों के बीच नक्सलवादियों के प्रति बेहद हमदर्दी है और इस हमदर्दी का कारण उनके अन्दर परिवर्तन की जबर्दस्त इच्छा का होना तथा मौजूदा सभी संसदीय पार्टियों के प्रति उनका मोह-भंग होना है।

जैसे-जैसे ब्रिटेन लौटने का मेरा समय नजदीक आता गया, मैं अमलेन्दु तथा अन्य लोगों से इस विषय पर विचार-विमर्श करने लगी कि मेरे जैसे लोग भारत के बारे में चिंता महसूस करते हैं यहाँ की जनता को किस तरह की मदद पहुँचा सकते हैं। एक दिन उसके एक दोस्त ने कहा, "यदि सचमुच किसी तरह की मदद करना चाहती हो तो यहाँ रूक क्यों नहीं जाती? यह

मेरा परिवार था। लेकिन इसके साथ ही लोगों के उत्पीड़न की चरम-सीमा को देखकर मैं जितना प्रभावित हुई थी उसके बावजूद यदि मैं लन्दन की ऐशो-आराम की जिन्दगी में वापस लौट जाती हूँ तो यह एक तरह का विश्वासघात होगा। यह एक ऐसी बात होगी, गोया मैंने हिन्दुस्तान में कुछ देखा ही नहीं। कई दिनों तक सोचने के बाद मैंने फिलहाल रूकने का फैसला किया। मैंने सोचा कि कम-से-कम तब तक तो मैं रूक ही जाऊँ जब तक भारतीय स्थिति के बारे मैं थोड़ा और अध्ययन तथा अनुसंधान कर लूँ।

कलकत्ता में कुछ सप्ताह एक साथ रहने के बाद अमलेन्दु ने अपनी सामान्य-सी जिन्दगी में साझीदार होने के लिए मुझसे कहा। हम लोगों के

बीच पहले से ही जो स्नेह का बन्धन था, वह भारतीय जनता के प्रति हमारी परस्पर चिंता से और भी मजबूत होता गया। हम एक-दूसरे को अच्छी तरह जानते थे; हमारे सिद्धांत और आदर्श एक थे और अमलेन्दु का परिवार मुझे पसन्द करता ही था। पहले ही दिन से मैं उस परिवार में अच्छी तरह घुल-मिल गयी थी और अपने घर-जैसा महसूस कर रही थी। इसके बावजूद इतना बड़ा फैसला लेना बहुत कठिन था। कई दिनों तक मानसिक संघर्ष चलता रहा लेकिन अंत में मैंने महसूस किया कि ब्रिटेन वापस जाने और फिर अमलेन्दु को कभी न देख पाने का ख्याल भी कम कष्टप्रद नहीं है। भारत की स्थितियों के संदर्भ में मैंने जब भी उसे देखा यही पाया कि वह आराम और ऐश्वर्य के लोभ के सामने न झुकने के लिए कृतसंकल्प है और उसके इस गुण की मैं हमेशा तारीफ करती रही। अंततः मैंने अपना जवाब बता ही दिया

और 10 अप्रैल 1970 को एक अत्यन्त साधारण हिन्दू पद्धति से हम विवाह के सूत्र में बँध गये। हमारे लिए इसका कोई धार्मिक महत्व नहीं था, यह अपने इरादों को मूर्त रूप देने का सबसे कम जटिल तरीका था।

इससे कुछ दिन पहले मैं अपने जीवन का सबसे कठोर पत्र लिखने बैठी-मैं अपने माता-पिता को, जो मेरी वापसी की उम्मीद लगाये बैठे थे, सारी स्थिति समझाना चाहती थी। उनका दुखी और निराशा होना स्वाभाविक ही था, पर माँ ने लिखा कि वे लोग यही चाहते हैं कि मैं खुश रहूँ और मुझे जो उचित लगे वही करूँ।

मैंने सोचा कि यदि मुझे भारत में ही बसना है तो सबसे पहले गाँवों के बारे में और अधिक जानना चाहिए क्योंकि वर्तमान उथल-पुथल के

केन्द्र गाँव ही है। पत्र-पत्रिकाओं में मैंने देहातों में जारी सामंतवादी प्रभुत्व के बारे में, गरीब किसानों पर जमींदारों और सूदखोरों के कभी खत्म न होने वाले कर्ज के बारे में, बँधुआ मजदूरों के बारे में पढ़ा था। मैंने महसूस किया कि ग्रामीण भारत के बारे में मुझे बहुत कम जानकारी है।

मैं बंगाल और बिहार की सीमा के पास तथा जमशेदपुर से थोड़ी दूर सिंहभूमि जिले में अभी कुछ ही दिन रह पायी थी कि मुझे गिरफ्तार कर लिया गया। हथियारों से लैस पुलिस के पाँच जवानों ने मुझे चारों ओर से घेर लिया, रस्सियों से उन्होंने मेरी गर्दन, कलाई और कमर बाँध दी और धकेलते हुए ले जाने लगे। गर्दन पर रस्सी के कस जाने से साँस लेने में दिक्कत के कारण मैं तेजी से उनके पीछे-पीछे बढ़ती जाती ताकि रस्सी ढीली रहे। गाँव से बाहर एक खुली जगह में ले जाकर उन्होंने मुझे एक

पड़ क नाच बठा दिया। गर्मी से मुझे चक्कर आ गया। वे अपने अफसर का इन्तजार कर रहे थे। थोड़ी देर बाद उनका अफसर आ गया जो निहायत ही उद्दण्ड था।

दूसरे दिन सवेरे वे हमें चाइबासा ले गये। उन्होंने मेरी सैंडिल और पुरूषों के जाँघिया-बनयान छोड़कर सभी कपड़े ले लिये। सारे दिन हम बिना कुछ खाये-पीये पुलिस की दमघोंट गाड़ी में बैठे रहे। कुछ नौजवान लड़के गा रहे थे। और हँसी-मजाक से समय काट रहे थे। मैं धीरे-धीरे अमलेन्दु से बातचीत कर रही थी। इस विश्वास के साथ कि मैं जल्दी ही रिहा कर दी जाऊँगी उसने थोड़ी चुटकी लेते हुए कहा कि मैं उससे जेल में मिलने तो आती ही रहूँगी।

चाइबासा जेल में तीन दिन बीत गये। जेलर ने पूछा कि मैं औरत

हूँ या मर्द और मेरे बताने पर उसने महिला वॉर्डर को इसकी पुष्टि के लिए जाँच करने को कहा। मुझे महिला वॉर्ड में रखा गया।

तीसरे रात कल्पना नाम की एक बंगाली लड़की आयी। वह मध्यवर्गीय परिवार की थी और अंग्रेजी बोलती थी। मेरी गिरफ्तारी के दूसरे दिन वह पकड़ी गयी थी- उसे भी पुलिस ने नक्सलवादियों के तलाशी-अभियान में पकड़ा था और मेरे तथा अन्य लोगों की तरह उसे भी नक्सलवादी कहा गया था।

चाइबासा जेल के दफ्तर में पुलिस की पूछताछ का सिलसिला जारी रहा। पुलिस के खुफिया अफसर इस बात पर नाराज थे कि दूसरी महिला कैदियों ने मुझे पहनने के लिए कपड़े दे दिये थे। उन्हें चिढ़ हो रही थी कि मैं औरतों के साथ सम्बन्ध बना रही हूँ जबकि उन्होंने सोचा था कि उनके

साथ मेरी बातचीत हो सम्भव नहीं हो पायगी।

सोमवार, 1 जून 1970 को चाइबासा जेल से हमारा तबादला कर दिया गया। दर्जनों सशस्त्र पहरेदारों की मौजूदगी से घबड़ाये बगैर मैं बैठी अमलेन्दु से बात करती रही। उसने मुझे बताया कि हम लोग यहाँ से 142 मील दूर हजारीबाग ले जाये जा रहे हैं। मैंने पहले कभी इस जगह का नाम नहीं सुना था।

हजारीबाग जेल दफ्तर में एक चश्माधारी क्लर्क मुझ पर इसलिए गुस्से से उबल पड़ा कि मैं कल्पना के पीछे-पीछे महिला-कक्ष की ओर जा रही थी।

इसके बाद मैंने आखिरी बार अमलेन्दु से विदा ली। मुझे उससे बात

करने की इजाजत नहीं दी गयी- हाँ, जेल के अन्दरूनी हिस्से में जाने के लिए लकड़ी के विशालकाय फाटक में बने छोटे दरवाजे से अपने वॉर्डर के पीछे-पीछे कल्पना के साथ चलते समय मैंने पथरीले फर्श पर झुके अमलेन्दु के सर को सहला दिया था और उसके भाई की ओर देखकर मुस्करा पड़ी थी।

किताब का नाम : "भारतीय जेलों में पाँच साल"
लेखक : मेरी टाइलर
प्रकाशक : राधाकृष्ण प्रकाशन : 2/38, अंसारी रोड
दरियागंज, नई दिल्ली–110002

आपके जवाब के इन्तजार में–
शिवसिंह सहाल
'अलारिप्पु' बी-6/62 पहली मंजिल सफदरजंग इन्कलेव,
नई दिल्ली–29, दूरभाष : ६१०६३२७

ज्योति लेजर टाइप सेटिंग
दिल्ली–110092